

पुरुषार्थहीनाश्च संजाताः । कर्मसिद्धान्तस्य किमयमाशय आसीदिति प्रश्ने समु-
ज्जृम्भिते नाधिकं विवक्षामः । केवलन्तु इतिहासविदामिदमेव निवेदयामः—
आसीत्पुराकल्पे कश्चनाजीवकसम्प्रदायः गीसालकप्रवर्तितः । स आजीवकसम्प्र-
दायः सुतरां नियतिवादं श्रद्धधाति स्म ।^{१६} किन्त्वस्माकं देशे वर्षसहस्रपर्यन्तं
लब्धप्रचारोऽयं सम्प्रदायोऽद्य विलयं गतः इदानीमितिहासावशेषो बभूव ।
हिन्दु-जैन-बौद्ध-सम्प्रदायाः कर्मसिद्धान्तसमर्थकाः सन्तो ये अवशिष्टास्ते सर्वे
पुरुषार्थवादिनः । अस्मद्देशेन सिद्धान्ततो नियतिवादस्यायमेव सत्कारो विहितो
यन्नियतिवादिन आजीविकाः नामावशेषाः कृताः । तथापि ये भाग्यवादमा-
श्रयन्ते पुरुषदोषः स भवति न तु शास्त्रदोषः ।

अत्रेदमवधेयं—यदि नाम भारतीयदर्शनमाधुनिके युगे सर्वथानुकूलं किन्तर्हि
तत्प्रतिदिनमुपेक्षयते । अथवा भारतीयानां तत्तादृशे दर्शने सति किमिति राष्ट्रस्य
जीवने प्रफुल्लता नाविर्भवति । मन्यामहे, भारतीयदर्शने सन्तुलनाभाव
इति । तद्यथाध्यात्मिकमूल्यानां महत्त्वे सति भौतिकोन्मत्तरूपेणा दर्शनमेकाङ्गित्वं
विधत्ते । आत्मात्मैति ब्रुवाणः देशेऽस्माकं पदार्थाः सुतरामुपेक्षिताः । तेन दारि-
द्र्यमवर्धते । दारिद्र्ये समुपचिते लालसा बलवत्तराभूत् । तेनान्तरङ्गतः
भौतिकसुखाभिलाषिणस्सन्तोऽपि भारतीयाः बाह्यतस्त्यागिनः संवृत्ताः । अयमेव
मिथ्याचार इत्युच्यते ।^{१७}

पदार्थोपेक्षायाः शरीरोपेक्षाप्यङ्गीभूता । शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनमिति^{१८}
कविकुलगुरोः कालिदासस्य शरीरोपेक्षणः प्रत्यासीदादेशः । किन्त्वस्माकं
चिन्तकाः शरीरं व्याधिमान्दिरं जलबुद्बुदनुदन्श्वरं कदलीस्तम्भवन्निसारं सकल-
मलराशि मन्वानास्तदाद्यं धर्मसाधनमुपेक्षितवन्तः । एवमेव 'यज्ज्योतिरन्तरमृतं
प्रजासु'^{१९} इति मनः श्रुतिषु स्तुतमासीत् तन्मनश्चपलमिति बन्धनमिति च
निन्दितम् । एव शरीरमनसोर् आत्मना शत्रुतेव समुत्पन्ना । इदं खण्डितव्यक्ति-
त्वस्य मूलम् । तेन दमनं प्रारब्धम् । तपसः परम्परा देशेऽस्मिन् पुरातनी बभूव ।
दमनस्य तपसा मिथ्यातादात्म्यं स्थापितमभूत् ।

शरीरोपेक्षया सार्धं परिवारजनानामप्युपेक्षाभूत् । परिवारं प्रति स्नेहभावः
राग इति गर्हितोऽभूत् । परिवारोपेक्षायां सत्यां समाजे स्त्रियः स्थानं निम्नतरं
जातम् । 'यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः'^{२०} इति मनोवाक्यमनु-
सृत्य स्त्रीषु अवहेलितासु अस्तुतोऽस्माकं समाजः पङ्गुरिव सम्पन्नः । वैराग्येन

१६. Bhargava, D., Jaina Ethics, Delhi, 1968, p. 17

१७. गीता, ३. ३

१८. कुमारसम्भवम्, ५. ३३

१९. यजुर्वेदः, ३४, ३

२०. मनुस्मृतिः, ३. ५६

विनोदवाचकमद्वैतधर्मात्मम्—राजनीतेः स्थानं विज्ञानं, सत्प्रदत्तस्य स्थान-
मध्यारमज्ञानं च गौडैयान् । विज्ञानात्प्रथमज्ञानात्प्रथम समन्वय एव विद्वित्कसम्बन्धम्
भारतीयदर्शनस्य धर्मोदात्तं भवितुमर्हतीति समासतोऽस्माकमाशङ्कते ।

समनामापि न सुखीयामः ।
स्वभावस्य मदीनं सन्देहः । किन्तु यत् स्वयं गौडैयकवचनमस्तेतः अथा-
भौतिकसम्बन्धवत्प्राक्प्रतिपत्तिर्भवति । भारतीयदर्शनस्य भौतिकसम्बन्धस्य
ये सत्प्रदत्ताः देशास्तेन आत्मज्ञानं विना जीवन् मुमुक्षुव प्रतीयन्ति । तस्माद्-
सत्प्रदत्ता उच्छ्वासात्प्रथमं एव बोधिसान्प्रदानं मुमुक्षुः परं वात्प्रतिपत्ति ।

निदानं मन्वते । आधुनिकसम्बन्धं दर्शन-परिदृशीजनपर्युः सत्प्रकृतया विचार-
परं क्वचनारम्भतः अकर्मण्यतः समाजोपशान्तं बुभुक्षामावाप्य च भारतीयदर्शनस्यैव
निके युगे चेतनेन जगति । अमः सेवा प्रमयावता च कल्याणस्य साधनमिति ।
प्रयत्नता, अथयत्नं कृतं विमलता, मतिर्न च मनसि कृतं दर्शनमप्यप्य । आधि-
वसन्तीति प्रसङ्गस्य नामाख्यातस्य अस्ति अतिरिक्तं दर्शनं कृतं
मात्रं अस्मत्कारणे एति कृतं कर्मन्वाप्या अवाक्याः ? अकर्मण्ये पुरेक्ष्यन्ती
यद्यपि अस्मत्प्रतिमानं जीवन्मति अमणोशब्दः आत्मशाब्दश्च परं कर्म-
निर्दिष्टमार्गवाक्या एव गौडैय ।

अतः आत्मकेन्द्रिता सती समाजं सुवर्तमानवहेल्यमासा । सेवायाः प्रत्या वा

४. विद्या दान तपः सत्यं धर्मस्थिति पदाति च—भागवतपुराण, ३. १२. ४१

श्रीर भी वैशिष्ट्य शान्तिपर्व ६०.७५

३. वृषा हि मातामह धर्मः—मनुस्मृति ८. १३

२. सत्यं ब्रह्मैतन्मयं दीक्षा तपश्च यज्ञः पूजार्थं धारयन्ति—अथर्ववेद १२. १. १

१. श्रुती धर्माणि धारयन्—ऋग्वेद १. २२. १८

ऋग्वेद में ब्रह्मी धर्म की एक ऐसी तत्त्व माना है जिसके द्वारा मित्र और बन्धु सभार की रक्षा करते हैं, वही धर्म के साथ श्रव और ऋतु की भी चर्चा बार पर दान माने गये हैं और वृषभ के भी चार पर दाने हैं।

कि धर्म वृषभ है। भागवतपुराण में धर्म के विद्या, दान, तप और सत्य ये चारों ही धर्म माने गये हैं। इस परतपरी के कारण वने हीं विद्या कि पूजार्थी की वृषभ धारण किथे हुए है। सभ्यतः धर्म के चार श्रम, की वृषभ परतपरी के माध्यम से कि धर्म वृषभ है। वृषभ लोक-परतपरी की वृषभ वैदिक विचार से कि धर्म के ये तत्त्व पूजार्थी की धारण किथे हैं, मनुस्मृति है। ये ही तत्त्व मूलतः वैदिक काल की धर्म धारण के स्वरूप हैं। इस दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ से तत्त्व माने गये हैं, जो पूजार्थी की धारण करते हैं जो उनी प्रकार गये सभ्यतः जीव जाता था। अथर्ववेद में सत्य, ऋत, धर्मिण्य में 'धर्म' का सभ्यतः धारण करने से जीव जाता है, वैदिक साहित्य 'धर्म' शब्द ऋग्वेद में श्रुतक स्थली पर आया है और जिस प्रकार परवर्ती गया।

में ही नकारित हो था किन्तु वैदिक सभ्यत में विद्यते-विद्यते अकारित हो समझने के लिए तीनों का शान विचार धर्मिया है। इनमें 'धर्म' शब्द वेद नकारित है, तीनों ही नपुंसकलिङ्ग में हैं और भारतीय दर्शन के विचारन की वे शब्द हैं—'धर्म', 'कर्म', 'श्रीर' और 'ब्रह्म'। ये तीनों ही शब्द मूलतः या सभ्यत की किसी अन्य भाषा में ठीक पृथिव्याकी शब्द नहीं मिल सकता। भारतीय दार्शनिक विचारन में तीन शब्द ऐसे हैं जिनका सभ्यतः श्रुती में

धर्म शब्द का अर्थ

हूँ है ५ । किन्तु सबसे महत्वपूर्ण चर्चा इस मंत्र में यह है कि मित्र और वरुण
 समुद्रों की माया द्वारा भी संसार की रक्षा के लिए किया गया कपटाचार भी
 धर्म ही है, इस प्रकार की मान्यता का जन्म उषी समय ही हुआ था । अर्थात्
 वैदिक ऋषि साध्य की श्रद्धा से साधन की श्रद्धा भी मान लेते थे । किन्तु धर्म
 एक साधन है—यदि एक परम्परा है जो महामारि के उस प्रसिद्ध रोज़ीक में
 अभिप्रेत होती है जिसमें यह कहा गया है कि धर्म से अर्थ और काम की
 प्राप्ति होती है । किन्तु महामारि से पूर्व ही ऋग्वेद में इस मान्यता के बीच
 लिखित है कि धर्म स्वयं साध्य है, साधन नहीं । पुत्र-सूक्त में जब यह कहा गया
 कि देवताओं ने धर्म से धर्म का ही धर्म किया, सम्मान किया, तो इस उक्ति
 में यही स्पष्ट लिखित है । शुकल यजुर्वेद में भी स्पष्ट यह लिखा गया है कि धर्म
 से धर्म का धर्म किया गया । अथर्वशिखर में उक्तानुवृत्त में और भी स्पष्ट

करते हुए कहा गया है कि "धर्म से धर्म का ही धर्म करता हूँ" ६ ।

इसमें ऊपर कहा कि वैदिक धर्म समाज प्रधान था—साध-साध नहीं,
 साध-साध नहीं, यह वैदिक धर्म का मूल स्वर है । इस समाहित प्रधान धर्म
 का कर्म धर्म है जिससे स्वयं ऋग्वेद में प्रथम धर्म कहा गया है । ११ स्वर
 ऋग्वेद में धर्म का सीधा साक्षात् वर्णित से जहाँ है और यह माना गया है कि
 श्रद्धा ही संसार के प्राणों का मूल है । १२ यह मान्यता इस बात का पक्ष
 प्रमाण है कि ऋग्वेद की धर्म-संस्कृति ऊँच प्रधान समाज की देन है ।

धर्म की स्वयं ऋग्वेद में अठ्ठम कर्म कहा गया है । अतः धर्म प्रधान होने
 के साथ-साथ वैदिक धर्म-कर्म भी प्रधान है । अथर्ववेद में धर्म की प्राणता धर्म

५. धर्मोत्पत्ति विचारकाली विपश्चिता श्रुति रक्षित अयुक्त्य माध्या

धर्मोत्पत्ति विषय पूर्व विचारणः सुप्रभा श्रुति विचार रथम् ।

—ऋग्वेद, ५. ६३. ७

६. धर्मोत्पत्ति विचारकाली विपश्चिता श्रुति रक्षित अयुक्त्य माध्या

७. धर्मोत्पत्ति विचारकाली विपश्चिता श्रुति रक्षित अयुक्त्य माध्या

८. धर्मोत्पत्ति विचारकाली विपश्चिता श्रुति रक्षित अयुक्त्य माध्या

९. धर्मोत्पत्ति विचारकाली विपश्चिता श्रुति रक्षित अयुक्त्य माध्या

१०. धर्मोत्पत्ति विचारकाली विपश्चिता श्रुति रक्षित अयुक्त्य माध्या

११. धर्मोत्पत्ति विचारकाली विपश्चिता श्रुति रक्षित अयुक्त्य माध्या

१३

१२. धर्मोत्पत्ति विचारकाली विपश्चिता श्रुति रक्षित अयुक्त्य माध्या

धर्मोत्पत्ति विचारकाली विपश्चिता श्रुति रक्षित अयुक्त्य माध्या

दशकालिक में शक्ति, समय और तप की धर्म माना गया है^{१३} धर्म का इस चरित्ररक धर्म के प्रतिफल एक दूधरा भी शर्ष रटा है, और वह है परंपरा का पालन। सीमाया में शक्तिवर्धन कर्म का करता ही धर्म माना है^{१४}। महोत्तरी ने शर्षा शशा के पालन की ही धर्म माना है^{१५}। शर्षा की "पुरुषस्य" शब्द जो शी के "पुरुष" से निकला है, का भी मूल शर्ष परंपरा पालन ही है^{१६}। किसी भी समाज की स्थिति उस समाज में प्रति- स्थित परंपराओं के पालन पर ही श्रवणस्थित होती है। शतः समाज की स्थिति में सहायक होने के कारण उन परंपराओं का पालन भी धर्म मान लिया जाता है।

शास्त्रीय दर्शन के इतिहास में एक ऐसा महिं शाय स्थिति समस्त विन शी जीवन का एक नई दिशा दे दी। इसका प्रारम्भ उपनिषद् युग में हुआ। धर्म के अन्तर्गत विन भी विचारी का उल्लेख हमने ऊपर किया, उनका मूल वेद है। किन्तु मुण्डक उपनिषद् में वेद की समस्त विद्या की शर्षा कहकर उसे एक निम्न स्थान दिया और उसके स्थान पर परी विद्या को एक ऊँचा स्थान दिया^{१७}। परी विद्या की परंपरा में धर्म समाजपरक न रहकर व्यक्ति- परक हो गया। शी, गुरुय जी समाज की स्थिति में विशेष सहायक था, उनका प्रधान नई रटा। कठोपनिषद् ने स्पष्ट घोषणा की, कि श्रद्धा की शक्ति न धर्म से होती है^{१८}। श्रद्धा उपनिषद् में भी वही स्पष्ट प्रगट होना है^{१९}। कठकृतवाचायु ने पाप की लोहे की श्रद्धा गुरुय की स्थायी की श्रद्धा बतलाया^{२०}। इस प्रकार पाप और गुरुय दोनों का ही प्रति- शोधन एक प्रकार से होने लगा और धर्म, शर्ष, काम इस विद्या का प्रधान धर्म, शर्ष, काम, धर्म के पुरुषाशुभवेदय ने ले लिया^{२१}। शत

१६. धर्मा मंगलमुक्तिकदे शक्तिं सजगो वचो । दशकालिकस्य, १. १
१७. चोदनालक्षणाऽयः धर्मः—मीमांसिदाचार्य, १. १. २
१८. शान्तिपु मायां धर्म—शाबाराङ्गम सूत्र, १. ६. २. १८०
१९. त्पूरेह, ज्ञेयत एव, सि पुरिभेदेस शौक पुरुषस, लक्ष्म, १६१०,
२०. ४
२१. श्रद्धाकोपनिषद्
२२. श्रद्धा उपनिषदाधर्म—कठोपनिषद्, २. १४
२३. न लेषा धर्मा न श्रद्धा—श्रद्धाकोपनिषद्, ४
२४. शीवशिष्य सि शिष्यत्वं श्रद्धिं कालायस सि जहृ पुरिस । श्रद्धि एव शीव मुह्यसि वा कर्ष काम ॥ समयस्य, १४६
२५. श्रद्धा-शुभाचारस्य—मीमांसिदाचार्य, १. १. २

२७. श्रद्धा-शुभाचारस्य—मीमांसिदाचार्य, १. १. २

लिकट्ट यह है कि धर्म शब्द के अर्थ को समझने के लिए इस भारतीय धर्म भाषाशास्त्र के इतिहास की चार युगों में विभाजित कर सकते हैं—

१. ऋषि युग—इस युग में धर्म का प्रधान संज्ञकत्व समाज-व्यवस्था, गतिशीलता और कर्म से था। इस युग का महामन्त्र था 'वदेवैति चदेवैति'।
२. मुनि युग—इस युग में कर्म की अपेक्षा ज्ञान की महत्ता अधिक हो गई। शास्त्रशास्त्रकार प्रधान धर्म माना जाने लगा। इस युग का महामन्त्र है—

३. आचार्य युग—इस युग में निर्गुण का स्वर प्रमुख हो गया। एक ऐसे धर्म की कल्पना की गई जो पाप पुण्यातीत है, आचार्यातीत है। इस युग का महामन्त्र है—'वर्धते एव सर्वं जीव सुहृदमसुहृदं वा कव कम्'।

४. सनत युग—इन तीन व्याख्याओं के अतिरिक्त धर्म की एक चौथा व्याख्या अद्वैतपरक की गई। इस स्वर का प्रभाव जिस युग में भारतीय जन-मानस पर विशेष रूप से पड़ा, उसे सनत युग कहा जा सकता है। इस युग का महत्त्व है—अद्वैत परमा धर्मः। अथवा 'दया धर्म का मूल है'। धर्म के इस पक्ष को गीर्वाणी जी ने अपने जीवन में बड़े प्रभावशाली बना दिया 'और वैयास जन जी ने न केवल वेदान्त की नींव पराई से' इसे अपना प्रिय गीत बनाया।

किन्तु धर्म की यह परस्पर विरोधी दिखने वाली व्याख्याएँ ऐसी नहीं हैं। इनका सम्बन्ध स्पष्ट न हो। वस्तुतः धर्म का पूर्ण स्वरूप इन चारों परस्परानुषंगी के सम्बन्ध से ही प्राप्त हो सकता है। कर्म, शास्त्रशास्त्रकार, आचार्यातीत धर्म, और अद्वैतधर्म, वस्तुतः ये चारों एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। इन चारों का सम्बन्ध करने पर धर्म का एक संतुलित अर्थ हमारे सम्मुख आता है और वह है कर्तव्य-पालन पूर्वक आत्म-साक्षात्कार और आत्म-साक्षात्कारपूर्वक कर्तव्यपालन।

१. काममय पदार्थ पुरुष हीन । स यथाकामो भवति तत्कर्मसु भवति यत्कर्मसु भवति । तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तद्विभक्तमप्यथ । ४.४.५.

इसरे के प्रति किए गये प्रत्येक अपराध के मूल में भयने प्रति अपराध ही भयान से प्रकटित होता है—प्राप ।

जो कुछ है वह सुखाभास है । यह है कि सुख की आत्मस्वभावव्यतिरिक्त अन्य कोई सत्ता ही नहीं है, अन्य अधिक उपयुक्त होगा कि सुख वह है जो आत्मा का स्वभाव है । अधिभय भक्त वर्तमानों में रहता है जिनमें से आत्मा भी एक है । यदि हम यह कहेंगे तो सक्तो है । इस वाक्य से ऐसा लगता है मानों सुख एक स्वतन्त्र गुण है जो कदा जाता है कि सुख आत्मा का स्वभाव है । इससे एक आत्मा ही

होता है वैसा ही वह बन जाता है ।" श्रीर वैसा उसका अध्यवसाय होता है वैसा ही कर्म होता है तथा वैसा कर्म "पुरुष कामनामय है, वह वैसी कामना करता है, वैसा अध्यवसाय करता है जो दुःख की कामना नहीं करता उस दुःख प्राप्त भी नहीं होता क्योंकि जो दुःख का स्वरूप जान लेता है वह दुःख की कामना नहीं करता और

प्रतीत होते हैं । प्रतीत होते हैं । सुख हमारे इस भ्रम की वनाये रखते हैं और हमें भ्रमकर्म हमें भयने मयूर विद्या-स्वर्णों से बना देते हैं और इसीलिये हमें प्रतिकर्म हमारे इस भ्रम की लोह डालते हैं । वे हमारे व्यक्तित्व की अकथोर कर भ्रम की वनाये रखते हैं सहायक होते हैं कि हम सुखी हैं । तथाकथित दुःख सुख ही वर्तुतः दुःख है, क्योंकि वास्तव में सुखी न होने पर भी वे हमारे इस भान हो जाए, तो दुःख की निर्गुण भी अनायास ही हो जाए । तथाकथित परिणाम-मात्र है जिससे हम सुख समझते हैं । यदि हमें दुःख के स्वरूप का जिससे हम दुःख मानते हैं, वर्तुतः वह दुःख नहीं है; वह उसका स्वाभाविक भयान से प्रकटित होता है—दुःख ।

अज्ञान

प्रधान रहता है^२। जिस हृदय में पापाग्नि धधकती है उसे तो पुटपाक-प्रती-काश अन्तर्दग्ध करती ही है, दूसरों तक तो कभी-कभी छिटक कर उस पापाग्नि को त्रिनगरियाँ ही पहुँच पाती हैं। कोई पाप तब तक पाप नहीं बनता जब तक कि वह अपने प्रति भी पाप न हो।^३ पाप की विष में बुझी तलवार सदा उल्टी ओर से—घार की ओर से—पकड़ी जाती है, उसका प्रहार मूँठ की ओर से होता है। दूसरों पर मूँठ की मार का कोई प्रभाव हो या न हो, घार का विष तो मारने वाले के हाथ में ब्रण बना कर पैठ ही जाता है।

दर्शन का एक मात्र शत्रु है—अज्ञान।

दर्शन का अर्थ है—देखना। हम देखते हैं, किन्तु पदार्थ को नहीं, पदार्थ के अपने मानसपटल पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को देखते हैं। यह सीधा वस्तु दर्शन नहीं, साक्षात्कार नहीं, छायादर्शन है। हमारी प्रत्येक प्रतीति अपनी व्यक्तिगत कल्पनाओं में इतनी गहरी रंग जाती है कि वस्तुदर्शन हो ही नहीं पाता। हम स्वयं तो देख नहीं पाते, जो कुछ दूसरों ने देखा उसका हम श्रवण भी नहीं कर पाते। हमें शास्त्रों के वाक्य नहीं, शास्त्रवाक्यों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया मात्र सुनाई देती है। फिर आचार्यों की यह मान्यता है कि श्रुति के महावाक्य सुनते ही ब्रह्म-ज्ञान हो जाता है^४ कैसे सत्य सिद्ध हो सकता है? श्रुति अपौरुषेय है, वह सत्य का वस्तुपरक याथातथ्य विश्लेषण है, किन्तु हम उसकी व्यक्तिपरक व्याख्या करके, उसे अपनी पौरुषेय कल्पनाओं में रंग कर उसकी अपौरुषेयता समाप्त कर देते हैं, उसके श्रुतित्व को नष्ट कर देते हैं। वेद अनन्त हैं—अनन्ता वै वेदाः, क्योंकि ज्ञान अनन्त हैं। किन्तु सभी ज्ञान वेद नहीं हैं, सभी ज्ञान अपौरुषेय नहीं हैं—सभी ज्ञान पुरुषनिरपेक्ष नहीं हैं। ऋषि का ज्ञान द्रष्टा का ज्ञान—ही वेद है। ऋषि सत्य का साक्षात्कार करता है—उसे अपने ममत्व और अहं के विकल्पों के माध्यम से नहीं देखता, सीधा देखता है। हम सीधा नहीं देख सकते, और जिन्होंने सीधा देखा है उनके वाक्यों को सीधा सुन भी नहीं सकते। हम 'श्रवण' नहीं कर सकते तो फिर 'मनन' कैसे करेंगे? हम 'श्रावक' की भूमिका पर ही नहीं पहुँचे तो 'मुनि' पद कैसे प्राप्त करेंगे?

स्वयं वेद के ऋषि ने वेदवाणी के श्रोताओं की इस कमी को समझ लिया था। इसीलिए तो उसने कहा कि "कुछ लोग वाणी को देखते हुए भी

२. तुलनीय, तत्त्वप्रदीपिका तथा तात्पर्यवृत्ति टीका, प्रवचनसार, बम्बई, १९५५ (सं० डा० ए० एन० उपाध्याय), २. ५७.

३. धवला, अमरावती, १९३९, (सं० डा० हीरालाल जैन), १४.६६०-१००

४. नैकर्मसिद्धि, पूना १९२५, १. ६७.

जैन-तर्क-भाषा के शास्त्रार्थ-स्थलों का मूल्यांकन

१७वीं शताब्दी के गुजराती श्वेताम्बर साधु महोपाध्याय श्री यशोविजय-गणिक के प्राकृत, गुजराती और हिन्दी-मारवाड़ी के ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत के ही ७२ ग्रन्थ माने जाते हैं, जिनमें से ४० पूर्णतः तथा ७ अंशतः उपलब्ध हैं।^१ ग्रन्थों के नामों से ज्ञात होता है कि इनमें १६ ग्रन्थ जैन-न्याय पर हैं। इनमें से आठकल न ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनका महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने संक्षिप्त विवरण भी दिया है।^२ इन ग्रन्थों में भी जैन-तर्क-भाषा को यशोविजय जी के जैन-न्याय-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है।

यशोविजय जी जैन-न्याय पर लिखने वाले अन्तिम दार्शनिक हैं और नव्य-न्याय की शैली में जैन-न्याय पर लिखने वाले एक-मात्र लेखक हैं। इस नाते उनके न्याय सम्बन्धी ग्रन्थ भारतीय न्याय के अध्येताओं के लिए सामान्यतः और जैन-न्याय के अध्येताओं के लिए विशेषतः पठनीय हैं। प्रस्तुत निबन्ध में जैन-तर्क-भाषा के उन स्थलों का एक मूल्याङ्कन किया गया है जिन स्थलों में यशोविजयजी ने अजैन-मान्यताओं का पूर्वपक्षत्वेन खण्डन करके जैन-मान्यताओं की सिद्धान्तपक्षत्वेन स्थापना की है। स्पष्ट है कि किसी भी लेखक की तुलनात्मक या आलोचनात्मक दृष्टि ऐसे ही स्थलों पर विशेषतः उभर कर आती है और इसीलिए ऐसे स्थलों के मूल्याङ्कन से किसी लेखक—विशेषतः तर्कशास्त्री—का वास्तविक मूल्याङ्कन हो पाता है।

चक्षु की अप्राप्यकारिता

आचार्य यशोविजय के सामने पर-मत-खण्डन का प्रथम अवसर व्यञ्जनावग्रह के चार प्रकारों का विवेचन करते समय उपस्थित हुआ। यहाँ उन्हें नैयायिकों के इस मत का खण्डन करना है कि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्यकारी है। वे अपनी युक्ति का प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं कि जल या अनल के

१. जैन-तर्क-भाषा, सं० पण्डित मुखलाल जी संघवी, अहमदाबाद—कलकत्ता, पृ० १३

२. ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लॉजिक, दिल्ली, पृ० २१६-२२०

देखने से चक्षु में आर्द्रता या दाह उत्पन्न नहीं होता, अतः स्पष्ट है कि चक्षु प्राप्यकारी इन्द्रिय नहीं है।³ यह कहा जा सकता है कि सूर्य के देखने से चक्षु का उपघात तथा चन्द्र के देखने से चक्षु पर अनुग्रह⁴ प्रतीति में आते हैं, अतः चक्षु को प्राप्यकारी ही मानना चाहिए। इसका समाधान यह है कि ये उपघात तथा अनुग्रह प्रथम दर्शन के समय नहीं होते; निरन्तर देखने पर प्राप्त सूर्य-किरण के उपघात की, तथा निसर्गतः सीम्य गुणों से युक्त चन्द्र के देखने पर उपघाताभाव में अनुग्रह की प्रतीति होना युक्तियुक्त ही है, किन्तु इससे चक्षु की प्राप्यकारिता सिद्ध नहीं होती।

उपर्युक्त प्रसंग पर विचार करने से दो तथ्य हमारे सम्मुख आते हैं। प्रथम तो यशोविजय जी ने यहाँ पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष ज्यों का त्यों आचार्य जिनभद्रगण की विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्-वृत्ति से ले लिया है।⁵ पूर्वपक्ष की युक्तियों के लिए उन्होंने इस स्थल-विषयक पूर्वपक्ष के मूलग्रन्थों का आधार नहीं लिया, नहीं तो वे न्याय-दर्शन के ग्रन्थों में दी गई अन्य युक्तियों का भी उल्लेख करते।⁶ इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है—और सम्भवतः यह सत्य भी है—कि जैन-तर्क-भाषा जैसे लघुकाय ग्रन्थ से पूर्ण जैन-न्याय को समाहित करने की लालसा से यशोविजय जी प्रत्येक स्थल पर पूर्वपक्ष की सभी युक्तियों को नहीं दे सकते थे।

किन्तु विशेषावश्यक-बृहद्-वृत्ति के संक्षेपीकरण में भी यशोविजय जी से एक भूल हो गई जान पड़ती है। जिनभद्रगण का मूल तर्क यह है कि सूर्य-किरण दाहात्मक उपघातक वस्तु है और चिरकाल तक देखने वाले की आंखों के सम्पर्क में आकर उसकी स्पर्शनेन्द्रिय को ही दग्ध करती है—चिरकालमवलोकयतः प्रतिपत्तुः चक्षुः प्राप्य-समासाद्य स्पर्शनेन्द्रियमेव दह्यते***।⁷ यहाँ जिनभद्रगण की युक्ति का विशेष बल इस पर है कि सूर्य की किरणों से उपघात चक्षुरिन्द्रिय का नहीं, प्रत्युत स्पर्शनेन्द्रिय का ही होता है, अतः इससे

३. जैन-तर्क-भाषा, पृ० ३, पंक्ति १३-१४

४. यहाँ प्रमादवश मूल ग्रन्थ में क्रमभंग हो गया प्रतीत होता है। देखिए—रविचन्द्राद्यवलोकने चक्षुषोऽनुग्रहोपघातो दृष्टावेवेति। (पृ० ३, पं० १४) स्पष्ट है कि 'रविचन्द्र' के क्रम में 'उपघातानुग्रह' क्रम होना चाहिए।

५. जैन-तर्क-भाषा, तात्पर्य-सङ्ग्रहावृत्ति, पृ० ३६।

६. इन युक्तियों के लिए देखिए पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन-न्याय बनारस, १९६६, पृ० ५।

७. विशेषावश्यकभाष्य-बृहद्-वृत्ति, गाथा २१०

सकती ।

द्रव्य से मन की सम्बन्ध होने से मन की प्राप्यकारिता सिद्ध नहीं की जा
सकती स्वतः सिद्ध है, चाहे इन्द्रिय प्राप्यकारिता हो या न हो । इस प्रकार मनी-
सम्बन्ध है या नहीं । स्व-प्रदेश से स्थित पदार्थ से ही इन्द्रिय का सम्बन्ध
का नियम इससे होता है कि वह किसी बाह्य-पदार्थ की जानने समय उससे
प्राप्यकारिता सिद्ध नहीं होती । किसी की प्राप्यकारिता या प्राप्यकारिता
मनीद्रव्य मन का अधर्मा स्वप्रदेश है, अतः उससे सम्बन्ध होने से मन की
मनीद्रव्य से उसका सम्पर्क स्वतःसिद्ध है । सिद्धान्त पक्ष का कहना है कि
कि मन प्राप्यकारिता है क्योंकि वह मनीद्रव्य का निरन्तर ग्रहण करता है और
कि प्रत्येक उदरानुसंधान है कि मन प्राप्यकारिता है या नहीं । पूर्वपक्ष का तर्क है
है कि मन का व्यञ्जनाभाव ही होता है या नहीं । इसी मूल प्रश्न से यह आनु-
बन्धनों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं । यहाँ विश्वामयक मूल प्रश्न यह
मन की अध्याप्यकारिता-सिद्धि वाले प्रसङ्ग में एक व्याप्ति की ओर हम

निश्चर आती है ।

रूप का परिचय दिया है । इस परिवर्तन से उनकी युक्ति निश्चय ही अधिका
स्थान पर 'प्रसंग' बाध कर यथाविवक्षित ही न आनेपरन्तु मन की प्रतीति प्रस-
सम्बन्धों का अधिनियम पद एक ही है, परन्तु उस पद के अन्त में 'अभाव' के
उत्पन्न करके अर्थात् वाक्य की अन्तर्गत स्थिति रूप में प्रस्तुत किया है । दोनों
है । इसके साथ ही मूल प्रसङ्ग की भाषा में जो वीथिय है यथाविवक्षित ही न
मूल वाक्य सर्वथा प्रसिद्धयुक्तित्व है और पढ़ते ही उरल समझ में आ जाता
रह सकता कि संक्षेप में अपनी बात कह देते पर भी यथाविवक्षित ही का उप-
साक्षात् ही प्रस्तुत कर दिया है । दर्शन-शास्त्र के अध्येतार्थों से यह सिद्धा नहीं
यथाविवक्षित ही न यहाँ अनावश्यक विवरण देना दिया है तथा युक्ति का

प्राप्तप्रसङ्ग । १०

स्थानपरत्वात्, अन्त्या विवृद्धस्य कृष्णपरिमलखण्डजनितपरिभ्रमामात्रप्रदेश-
गत से मनः इति प्रत्यय इति चेत्, न; सर्वदा शरीरस्थैव मनसो गमनत्वेन-
ननु यदि मनो विषय प्रत्येक परस्मिन्मनि तथा कथं प्रसृतस्य 'सर्वदा'
इस सम्बन्ध की युक्ति यथाविवक्षित ही जैन-तर्क-शास्त्र में इस प्रकार देते हैं—

परिभ्रमामात्रप्रदेशपरिभाषात् । ६

त्वेन सर्वदा गतं कश्चित्पश्यति, न च तत्संबन्ध, इति स्थितिः सूत्रस्य
तस्यात्रैव दर्शनात्, यथाविवक्षितपरिभ्रमामात्रप्रदेशजनित-
परिभ्रमामात्रप्रदेशपरिभाषात् । ६

जायेगा ।

निकल लेना यथोचित ही की श्रमोत्पत्ति प्रतीति का ही सूचक माना
 विषयों का समावेश है; इस पर भी मौलिक विचार प्रकट करने का श्रम पर
 जैन-तर्क-भाषा एक ही लक्ष्यका अर्थ है, दूसरे अर्थ में जैन-भाषा के सम्बन्ध
 नहीं किया है । अतः इस मौलिक भाषादान का श्रम यथोचित ही का है ।
 मानने वाले मतों का उद्वेग उद्वेग-पूर्वक किसी अर्थ में जैन भाषा में विवेचन
 जहाँ तक मरा शान है अतः श्रम-परतन्त्र के कारण स्पष्टि की प्रमाण न
 बोध करती है ।

तो इसका समाधान यह है कि अर्थमति भी व्यक्त द्वारा शान विषयों का
 पदार्थ को ही स्पष्टि जानती है, अतः वह स्वविषय शान में भी स्वतन्त्र नहीं,
 में ही वह भी स्वतन्त्र ही है । यदि यह कहा जाये कि अर्थमति द्वारा शान
 है—स्पष्टि भी उत्पत्ति के समय ही अर्थमति-पूर्वक ही है । स्वविषय की जानने
 शान में ही स्वतन्त्र है अतः प्रमाण है तो यह स्पष्टि के बारे में भी स्पष्ट
 मति केवल उत्पत्ति के समय ही व्यक्त-शान-साक्षात् ही है किन्तु अर्थमति विषय-
 शान-साक्षात् ही के कारण प्रमाण नहीं ही सकता । यदि कहा जाये कि अर्थ-
 अर्थमति परतन्त्र के कारण स्पष्टि प्रमाण नहीं है तो अर्थमति भी व्यक्त-
 विषय ही न पालन मौलिकता प्रदर्शित की है । उनका कहना है कि यह
 युक्ति का समाधान करने में जैन-तर्क-भाषा जैसे लक्ष्यका अर्थ में भी यथो-
 भाषा है किन्तु अर्थमति-परतन्त्र के कारण स्पष्टि की प्रमाण न मानने वाली
 उत्तरण में शेष युक्तियों का समाधान तो परतन्त्र ही पर ही किया
 होने के कारण प्रमाण नहीं है, यथोचित ही न अर्थमति समाधान कर दिया ।
 अर्थमति ही ही । भाषाओं की इस युक्ति का कि स्पष्टि गृहीतग्राही
 में ही मान लेते । स्पष्टि में पदार्थ अतीत का ही है, अतः वर्तमान ही वह
 प्रमाण नहीं है । अतः यथोचित ही इस युक्ति का अर्थमति प्रथम युक्ति
 कि अर्थमति (पदार्थ की उत्पत्ति के बिना उत्पन्न) होने के कारण स्पष्टि
 यथोचित ही न ही युक्तियों की इस युक्ति का कोई उल्लेख नहीं किया
 सकता ।

(२) अर्थमति-साक्षात् होने के कारण स्पष्टि की प्रमाण नहीं माना जा
 सकता है ।

(१) स्पष्टि अतीत के पदार्थ में वर्तमान का बोध कराने के कारण
 साक्षात्कार के अर्थों से लिए गए हैं । वे तर्क में हैं—

समय यथोचित ही न ही पूर्वपक्ष की श्रम से ही तर्क प्रस्तुत किए हैं वे

“विषयाभावानन्दमस्तीति चेत्, न, पूर्वपरिवर्तनकद्रव्यम विद्यते-
 स्तुतिविषयत्वात् । अतएव, अग्रहीतविसर्गकमनुभवस्त्विति रूपं ज्ञानद्रव्य-
 मन्वैतद्” इति निरस्तम्; इत्थं सति विद्यते ज्ञानमतीच्छेदपत्तेः ।”

नहीं होता । मूल अवतरण देखिए—
 साय भीमसर्करी के मत का भी निरस्तन किस प्रकार हो जायेगा—यह स्पष्ट
 अनुभव शीर स्पष्टि—है । यहाँ प्रथम युक्ति से बीह-मत के निरास के साथ-
 भीमसर्करी के इस मत का भी खण्डन हो जाता है कि प्रत्यभिज्ञा में ही ज्ञान—
 विषय बन जायेगा । यहाँ उत्तर देने के बाद वे कहते हैं कि इसी युक्ति से
 बदन जाती । अतः वस्तु का वह रूप जो परिवर्तित रहता है, प्रत्यभिज्ञा का
 हीमा किन्तु दोनों की मायबानास्यार वस्तु परिवर्तित ही जाते पर संबंध नहीं
 क्षणिक है । अतः बीहों के अनुसार प्रत्यभिज्ञा का कोई एक विषय नहीं
 के अनुसार वस्तु का स्वकल्प उत्पत्ति-व्यय-धीनत्वमक है; बीहों के अनुसार वह
 पूर्वपक्ष की इन युक्तियों की समीक्षा में ही स्थल स्थल है । जन-सिद्धांत
 कर दिये हैं ।

इस प्रकार यहाँ यथोचित्य जो न पूर्वपक्ष के जगमग समी लक प्रवृत्त
 उत्पन्न करती है । अतः प्रत्यभिज्ञा का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में ही हो जायेगा ।

(२) पूर्ववत्कारजत्व स्पष्टि की सहजता से स्थिरता ही प्रत्यभिज्ञा
 प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष ही है ।

(१) प्रत्यभिज्ञा जब भी होती है, स्थिर-व्युत्पत्ति अवश्य होता है । अतः
 शीर से ही विकल्प प्रवृत्त किये गये हैं—

तथा स्पष्टि—वी ज्ञान होता है; अतः यह एक ज्ञान नहीं है । नैयतिकों की
 भीमसर्करी की शीर से यह तर्क दिया गया है कि प्रत्यभिज्ञा में अनुभव

(२) प्रत्यभिज्ञा का कोई एक विषय नहीं होता ।
 अतः इसे एक ज्ञान नहीं कह सकते ।

(१) प्रत्यभिज्ञा में ज्ञान स्पष्टाकार भी होता है शीर अस्पष्टाकार भी,
 प्रमाण के लक्ष्य ही तर्क दिये गये हैं—

शीर भी अधिक विस्तारपूर्वक किमा गया है । बीहों की शीर से प्रत्यभिज्ञा-
 प्रत्यभिज्ञा का प्रमाण सिद्ध करने समय पूर्वपक्ष की युक्तियों का उल्लेख

प्रत्यभिज्ञा-प्रमाण

खण्डन किस प्रकार होगा—यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं है। स्वयं जैन भी प्रत्य-भिज्ञा में अनुभव और स्मृति, दोनों का सङ्कलन तो मानते ही हैं। अन्तर यही है कि वे इन दोनों को सङ्कलनात्मक एक ज्ञान मानते हैं, मीमांसक दोनों को पृथक् मानते हैं। इस विषय में जैन-तर्क-भाषा की यही युक्ति अधिक सबल है कि यदि प्रत्यभिज्ञा को ज्ञानद्वय माना जाए तो विशिष्ट ज्ञान-मात्र का उच्छेद हो जायेगा। अतः उपर्युक्त स्थल पर 'अत एव' पद का सन्निवेश चिन्त्य है।

इसी से मिलती-जुलती आपत्ति नैयायिकों की है जो कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा का कार्य स्मृति की सहायता से प्रत्यक्षा ही कर देगा। यशोविजय जी का उत्तर है कि यह कहना अनुचित है क्योंकि प्रत्यक्ष में स्मृति की अपेक्षा नहीं होती।^{१७} यहाँ यशोविजय जी का पक्ष बहुत बलवान् नहीं प्रतीत होता। पूर्वपक्ष का यह कहना नहीं है कि प्रत्यक्ष स्मृति-पूर्वक ही हो; स्मृति-निरपेक्ष प्रत्यक्ष भी उन्हें अभिप्रेत है किन्तु यह अर्थ तो नहीं हो सकता कि कोई भी प्रत्यक्ष स्मृतिपूर्वक हो ही नहीं सकता। स्वयं जैन भी तो प्रत्यभिज्ञा में अनुभव और स्मृति—दोनों की सापेक्षता स्वीकार कर ही रहे हैं। वस्तुतः यहाँ स्मृति और अनुभव दोनों की सत्ता मीमांसकों तथा नैयायिकों के समान ही जैन दार्शनिकों को भी अभिप्रेत है। यहाँ विवाद यह है कि ये दोनों ज्ञान मिलकर एक नवीन सङ्कलनात्मक ज्ञान को जन्म देते हैं या नहीं, और यशोविजय जी से इसी विषय पर अधिक पृष्ठ युक्तियाँ अपेक्षित थीं।

उपमान-प्रामाण्य

उपमान को पृथक् प्रमाण मानने वाले मीमांसकों तथा नैयायिकों के मत का खण्डन करते समय यशोविजय जी पूर्वपक्ष की पूरी गहराई में नहीं गए—ऐसा प्रतीत होता है।^{१८} मीमांसकों से उनका कहना है कि यदि 'गोसदशो गवयः' वाक्य द्वारा सादृश्य-ज्ञान के आधार पर ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपमान को पृथक् प्रमाण माना जाए तो 'गोविसदशो महिषः' वाक्य द्वारा वैसादृश्य-ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक पृथक् प्रमाण मानना होगा। नैयायिकों से उनका कहना है कि यदि 'गोसदशो गवयः' वाक्य से संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध का ज्ञान होता है, पयोऽम्बुभेदी हंसः स्यात्' वाक्य को सुन कर भी जो संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध का ज्ञान होता है तो यहाँ कौन सा प्रमाण मानेंगे ?

इस प्रसंग में यशोविजय जी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि उपमाऽ को प्रमाण मानने वाले दर्शन उपमान के तीन भेद मानते हैं^{१९}—

१७. जैन-तर्क-भाषा, पृ० ६ पंक्ति २४-२५

१८. उपरिवत् पृ० १०, पंक्ति १-२१

१९. सिद्धान्तचन्द्रोदय, बनारस, सम्बत् १९४२, पृ० ३०

१. सादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञान — यथा गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञान ।
२. असाधारणधर्मविशिष्टपिण्डज्ञान — यथा खङ्गमृगज्ञान ।
३. वैधर्म्यविशिष्टपिण्डज्ञान — यथा उष्ट्रज्ञान ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'गोविसदृशो महिषः' वाक्य में तृतीय प्रकार के उपमान से, तथा 'पयोऽम्बुभेदी हंसः स्यात्' में द्वितीय प्रकार के उपमान से ज्ञान हो जाएगा। इस प्रकार यदि यशोविजय जी उपमान के इन भेदों की ओर ध्यान देते तो उनके आक्षेपों का स्वतः ही निवारण हो जाता।

वस्तुतः यहाँ मूल-समस्या यह थी कि उपर्युक्त तीनों प्रकारों को उपमान के भेद मानना अधिक सङ्गत होगा या प्रत्यभिज्ञा के। मेरा अपना विचार है कि प्रथम दो प्रकार तो कथञ्चित् उपमान में अन्तर्निहित हो भी जायँ, किन्तु तीसरे प्रकार को उपमान का भेद मानने की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञा का ही भेद मानना उपयुक्त होगा। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में तो प्रकृत इतना ही है कि यहाँ जैन-तर्क-भाषा में उपमान के इन तीन भेदों की चर्चा न होने के कारण, विवेचन मर्मस्पर्शी नहीं हो पाया है।

यद्यपि तर्क के प्रामाण्य की सिद्धि करते समय ^{२०} तथा हेतुस्वरूप की चर्चा के समय ^{२१} भी जैन-तर्क-भाषा में पूर्वपक्ष का सोपपत्तिक खण्डन है, किन्तु उन स्थलों पर कुछ विशेष वक्तव्य न होने के कारण हम केवल यही कहना चाहेंगे कि इन स्थलों पर पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष की युक्तियों का अत्यन्त प्रामाणिक संकलन किया गया है।

निष्कर्ष

जैन-तर्क-भाषा के शास्त्रार्थ-प्रसंगों के उपर्युक्त विवेचन में हमें निम्न-निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. यशोविजय जी का अजैन-ग्रन्थों का भी अध्ययन उतना ही गम्भीर तथा विस्तृत है, जितना जैन-ग्रन्थों का।

२. वे पूर्वपक्ष की युक्तियाँ प्रस्तुत करते समय अपने मत का समर्थन करने की इच्छा से उनमें कहीं विपर्यास नहीं करते, उन युक्तियों को पूरी ईमानदारी से रखते हैं।

३. अपने पूर्ववर्ती लेखकों के लेख का सारांश देते समय भी उनके लेख में अपनी शैली की छाप बनी रहती है। नव्यन्याय की शैली पर उनका अधिकार प्रशंसनीय है।

२०. जैन-तर्क भाषा, पृ० ११, पंक्ति ६-२७

२१. उपरिवत्, पृ० १२-१३

४. पूर्वपक्ष के प्रति उनकी दृष्टि एक शुद्ध तार्किक की दृष्टि है। जैन-तर्क भाषा में कहीं भी साम्प्रदायिक भावावेश नहीं मिलता, जबकि हेमचन्द्राचार्य जैसे प्रौढ़ लेखक भी ऐसे अवसरों पर यदा-कदा भावावेश में आ जाते हैं।^{२२}

५. वे शब्दाडम्बर द्वारा मूल-समस्या को टालने का प्रयत्न कभी नहीं करते। उन्हें जो कहना होता है उसे बिना किसी आडम्बर के कह देते हैं। शब्दाडम्बर न होने पर भी उनकी भाषा सुल्लिखित है, उसमें कहीं भी शैथिल्य नहीं है।

६. वे समस्या के अनावश्यक अंशों की उपेक्षा करके अनिवार्य अंशों पर ही विचार करते हैं।

७. जैन-तर्क-भाषा जैसे संक्षिप्त ग्रन्थ में जैन-न्याय के समस्त विषयों का समावेश करते हुए भी यत्र-तत्र यशोविजय जी ने अपने मौलिक चिन्तन का भी परिचय दिया है।

इस दृष्टि से यशोविजय जी की जैन-तर्क-भाषा नितान्त श्लाघनीय है। किन्तु यशोविजय जी के शास्त्रार्थ-प्रसंगों पर विचार करते समय हमें कुछ ऐसे तथ्य भी प्राप्त हुए हैं, जो चिन्त्य हैं—

१. कहीं-कहीं विशेषावश्यक-भाष्य-वृहद्-वृत्ति जैसे ग्रन्थों का सारांश देते हुए वे पूर्वपक्ष का मत देते समय पूर्वपक्ष के ग्रन्थों के अवलोकन की उपेक्षा-सी कर देते हैं।

२. पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का संक्षेप करते हुए एकाध जगह उन्होंने अनिवार्य अंश छोड़ दिए हैं।

३. कहीं-कहीं उनका विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण दुरुह किंवा आभक भी हो गया है।

४. उपमान-प्रमाण के तीन भेदों पर ध्यान न देने के कारण उपमान के प्रामाण्य का खण्डन जैन-तर्क-भाषा में बहुत मार्मिक नहीं हो पाया है।

इतना होने पर भी नव्य-न्याय के रसिकों के लिए जैन-न्याय के वाङ्मय में जैन-तर्क-भाषा का सर्वोपरि स्थान असन्दिग्ध है।

नव्य-न्याय का विषय अत्यन्त दुरवगाह है, अतः यदि मेरे उपर्युक्त विवेचन में कहीं कोई प्रमाद हो, तो विद्वज्जन मुझे उसका निर्देश करके कृतार्थ करें।

THE CLASSIFICATION OF VARIETIES OF HETU IN JAINA LOGIC

Vidyānanda (9th Cent. A.D.) has classified the varieties of *hetu* into two categories : (i) causal, (ii) non-causal.¹ There is no doubt about it that since the time of *Gautama*² (500 B.C. —300 A.D. ?) the importance of such cases where the proban and probandum stand in cause-effect relation to each other has been recognised with the result that all the five traditions of the *Naiyāyikas*, *Vaiśeṣikas*, *Sāṅkhya*, *Buddhists* and *Jainas* begin their discussion of the varieties of *hetu* with a discussion of cause-effect relationship between the proban and the probandum.

It is perhaps this relationship of cause and effect between the probandum and the proban which has been severely criticised by the Indian logicians throughout the history of Indian logic. The contention that an effect can be inferred from the cause appears to have been accepted by *Vātsyāyana*³ (300 A.D.) without any discussion. But, the fact that he immediately gave an alternative explanation of *pūrvavat*,⁴ where the cause-effect relationship was not involved, points to the fact that he was aware of some criticism of the doctrine that effect can be inferred from the cause. It is very interesting to note that the example that he gives as a case of *pūrvavat* under its second interpretation is a case of the inference of effect from the cause which is just the first interpretation of the *pūrvavat* though *Vātsyāyana* himself does not take any note of this fact.

1. *Pramāṇaparīkṣā*, p. 72

2. *Nyāyasūtra*, 1.1.5

3. पूर्ववदिति यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते । —*Bhāṣya* on *Ibid*, 1.1.5

4. अथ वा पूर्ववदिति—यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनान्यतरस्या-
प्रत्यक्षस्यानुमानम्, यथा धूमेनाग्निरिति । —*Ibid*, 1.1.5.

The fact that the *Yuktidīpikā* (6th Cent. A.D.) criticises any inference of the effect from the cause saying that there may be many obstacles like wind, etc., and the cloud may not necessarily lead to rain⁵ proves that the example of inference given by *Vātsyāyana* was being challenged by his contemporaries. The *Yuktidīpikā* pointed out that cause is a complex idea and it is the whole complex of the cause which could lead to the inference of the effect.⁶ The *Yuktidīpikā* criticises the inference of rain on the basis of flood saying that the flood could be due to many such reasons as melting of the snow or breach in a dam.⁷ The valid inference, according to the *Yuktidīpikā*, of cause from the effect, would be the inference of the root of the lotus from its leaves or the inference of the seed from the sprout.⁸ The *Yuktidīpikā*, thus, found fault with the examples of cause-effect relationship and tried to improve upon the previous examples by suggesting new examples. It, however, supports the old examples also after showing its invalidity through a far-fetched method of eliminating the possibilities of other causes of flood in a particular territory at a particular time under particular conditions.⁹ But, this does not appear to be the first choice of the *Yuktidīpikā*. It is only out of regard for the predecessors that the *Yuktidīpikā* takes upon itself to justify the views of earlier authors.

A versatile author like *Uddyotakara* (6th Cent. A.D.) who himself belonged to the *Nyāya* school could not remain satisfied with this half-hearted support of a work of an opponent

5. न हि मेघोदयोऽवश्यं वृष्टेः कारणं भवति वाय्वादिनिमित्तप्रतिबन्ध-
सम्भवात् ।
—*Yuktidīpikā* on *Sāṃkhyakārikā*, 5
6. यदा लोहदण्डादिसाधनसम्पन्नेन व्यापारवता कुम्भकारेणाधिष्ठितां
मृदमुपलभ्य घटस्य, तदा पूर्ववत् । *Ibid.*, 5
7. नदीपूरस्य हि निमित्तमनेकविधं भवतीति हिमविलयनसेतुभङ्गज-
क्रोडादि । *Ibid.*, 5.
8. उच्यते यदा तर्हि पर्णं दृष्ट्वा शालूकं प्रतिपद्यते अङ्कुरं वा दृष्ट्वा
बीजमिति शेषवत् । *Yuktidīpikā* on *Sāṃkhyakārikā*, 5
9. तत्र यदा प्रसङ्गिनां हिमविलयनादीनां देशकाललिङ्गैः प्रतिषेधः
क्रियते तदा मुक्तसंशयं प्रतिपत्तिर्भवति । —*Ibid.*

school. He, therefore, justified the case of an inference of the effect from the cause by saying that the effect is inferred as an attribute of the cause. It is, as it were, the potentiality of the cause to give birth to the effect which is inferred and not the effects which is not even available at the time of the inference and cannot, therefore, be inferred according to the dictum 'नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्तते'. Similarly, according to *Uddyotakara*, cause is also to be inferred from the effect only as its part.¹⁰

The fact that *pakṣadharmatā* of *hetu* was considered to be a necessary condition for inference was taken care of by *Uddyotakara* by saying that in the example of the inference of rain in the upper regions by looking at the flood in the river in the lower regions, it is not the rain in the upper region which is inferred, but it is the relationship of the river with the upper regions which are full of rains, which is inferred. There is no reference to the time factor in this inference.¹¹ It was, thus, through a very shrewd interpretation that *Uddyotakara* could defend the position of his predecessors.

This interpretation, however, could not carry conviction with the logicians of the opponent school like *Dharmakīrti* (7th Cent. A.D.) who accepted that effect necessarily presupposes a cause and, therefore, the cause can be inferred from

10. यदि तावदयमर्थः कारणदर्शनात् कार्यास्तित्वं प्रतिपद्यते इति ? तन्नास्ति...। अथ पुनरेवमनुमीयते यत्र कारणं तत्र कार्यमिति ? एतदपि नास्ति, कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वात् ।...कारणदर्शनाच्च कार्यमनुमीयते इति ब्रुवाणोऽनुमानमुद्रां भिनत्ति । का पुनरियमनुमानमुद्रा ? नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्तते इति ।...कार्यं तु कारणविशेषत्वेनोपयुक्तं गुणीभूतमनुमीयते इति सूत्रार्थः ।

...एवं शेषादिष्वपि व्याख्येयम् । तत्रापि कारणं कार्यस्याङ्गभूतमनुमीयते । इति । *Nyāyavārttika* 1.15

11. कथं पुनर्नदीपूरो नद्यां वर्तमान उपरिवृष्टिमत्तं देशमनुमापयति व्यधिकरणत्वात् ? नोपरिवृष्टिमद्देशानुमानं नदीपूरः किन्तर्हि ? नद्या एवोपरिवृष्टिमद्देशसम्बन्धित्वमनुमीयते नदीधर्मैर्वा... भविष्यति, 'कालस्याविवक्षितत्वात् यः कश्चित् काल उपादेय इति ।

Ibid, 1.1.5

the effect, but a cause does not necessarily give birth to the effect and therefore no effect can be inferred from a cause.¹²

But this objection of the *Buddhists* did not stop the orthodox systems from continuing their tradition. The *Gauḍapāda-bhāṣya* (700 A.D.) of *Sāṃkhyakārikā* repeats the concept of *pūrvavat* as given by *Vātsyāyana* with the same example. He, however, changes the concept of *Śeṣavat* altogether by making it identical with the *sthālipulākanyāya* as it were.¹³

It was at this stage of the controversy that *Bhaṭṭa Akalaṃka* (750 A.D.) the first Jaina logician to deal with this problem, entered into arena. He sided with the *non-Buddhist* logicians by accepting that effect can be inferred from the cause just as in the inference of the shade from the tree.¹⁴ By giving this example *Akalaṃka* contributed in the following three ways : (i) He could give an example of a valid inference of the effect from the cause. (ii) He could introduce the idea that there could be a case where the cause and effect could be simultaneous and not in succession. Therefore, he calls these varieties of *hetu* not merely effect and cause but as simultaneous effect and simultaneous cause. In fact, *Akalaṃka* appears to have been influenced by the examples given by *Anuyoga-dvāra* where the example of inference of blossoming of lotus from the rising of sun has been quoted as an example of inference of effect from the cause.¹⁵ (iii) In this example he could show that the effect could be actually inferred from the cause and we need not go into the hair splitting method of *Uddyotakara*, viz., that it is the potential effect not the effect itself which can be inferred from the cause. In fact, the example that was given by him could also safely meet the objection of *Uddyotakara* that a non-existent object is not to be inferred because here the effect also actually exists at the time of inference.

Though the Jainas did not appear to have entered into

12. *Nyāyabindu.*, p. 35.

13. शेषवद्यथा—समुद्रादेकं जलपलं लवणमासाद्य शेषस्याप्यस्ति लवण-
भाव इति ।

14. *Pramāṇasaṅgraha*, 29-30

15. *Anuyogadvāra, Sūtra*, 147

the controversy raised by *Uddyotakara* as to whether the past or the future objects can be inferred or not, it was *Jayamaṅgalā* commentary of the *Sāṃkhyakārikā* (9th Cent. A.D.) which asserted in unmistakable terms that preceding cause can lead to the inference of succeeding effect and *vice versa*. In fact, the *Jayamaṅgalā* interpreted *pūrvavat* and *śeṣavat* as inferences regarding future objects and past objects respectively.¹⁶ It appears to be a very bold step on the part of this commentary in view of the fact that *Uddyotakara* has definitely rejected the idea of any inference of a succeeding effect from a preceding cause and the *Buddhist* logicians have altogether denied the possibility of such an inference. It also goes to the credit of this commentator that in the sphere of logic he did not try to evade the main issue under the shelter of the metaphysical doctrine of its own system, *viz.*, *Satkāryavāda*, *i.e.* the effect is always present in its cause.

Vidyānanda (9th Cent. A.D.) the next Jaina logician, did not make any substantial contribution to the main problem as to whether inference is possible on the cause-effect relationship but contributed indirectly by raising the number of varieties of *hetus* giving full importance to such varieties which are based on cause effect relationship in the positive as well as in the negative sense.¹⁷ He also referred to some indirect cause effect relationship where one cause is related to another effect through the medium of an intermediary cause. He could enumerate as many as sixteen varieties under this sub-heading alone.¹⁸

Vācaspati (9th Cent. A.D.) is not so much occupied in proving that cause can be inferred from the effect as he appears to be anxious to show that the classification of the *Buddhists* regarding the types of *hetus* is wrong. He has, in fact, tried to prove that there is no relationship of cause and effect between the fire and the smoke because both of them are not

16. भविष्यदर्थसाधनाय पूर्ववदनुमानम्.. अतीतार्थसाधनाय शेषवत् ।

Jayamaṅgalā on *Sāṃkhyakārikā*, 5

17. *Pramāṇaparikṣā*. pp. 73-75

18. *Ibid.* pp. 73-74

in succession but simultaneous.¹⁹ It fact, such was his anxiety not to accept cause-effect relationship even where it was obvious that as an example of an inference of an effect from the cause he could find an illustration in a very abnormal case of a deaf inferring the sound of the drum produced by the cause of the beating of the drum by his own hands.²⁰ This type of example could hardly lead towards any clearer understanding of the problem.

In fact, there have been such advanced works as that of *Udayana* in the field of *Nyāya*, *Sāṃkhyatattvakaumudī* in the field of *Sāṃkhya* and *Pramāṇamīmāṃsā* in the field of Jaina logic, yet they hardly add anything new pertaining to the problem with which we are concerned here and we would, therefore, like to make the following observations of our own at this stage regarding the cases of inference where the proban and the probandum are related to each other as cause and effect or *vice versa*.

1. We feel that the cause is sometimes precedent to the effect and sometimes it is simultaneous with the effect. As an example where the cause is simultaneous we can quote from *Bhaṭṭa Akalāṃka* who says that shade could be inferred from trees. It may, however, be noted here that it is a case of what is named as *Viśamavyāpti* where the scope of probandum is larger than that of the proban. An example of *samavyāpti* where the scope of proban and the probandum is co-extensive is not found in the works of ancient authors but could be formulated as the inference of smoke from fire in conjunction with wet fuel or in inference of bondage of sinful actions from pain.

2. It is not correct to say that only simultaneous effect can be inferred from simultaneous cause. We can validly infer that the temperature of water will rise because heat is

19. न हि हेतुसत्ता कार्यकाला कार्योत्पादाङ्गम्, अपि तु तत्पूर्वकाला... एवं धूमादप्यग्निः तत्पूर्वकाल एवानुमीयते न तु वर्तमानकालः ।

— *Tātparyatīkā* on *Nyāyasūtra*, 1.1.5.

20. अपि च बधिरो मुरजमुखमभिहत्य स्वपाणिनाभिघातादेव शब्दकारणात् तत्कार्यं शब्दं निश्शङ्कमनुमिमीते । Ibid. 1.1.5

being given to it. We are, however, not able to formulate the case of inference of an effect from a precedent cause in case of a *Viṣamavyāpti*. It is perhaps not possible for the simple reason that if the scope of the two—the cause and the effect—is different and there is a time gap between the two there is always a possibility of an exception which may contradict the invariable concomitance between the two.

3. The proban implies the probandum and one proban may imply many things but it depends upon one who infers as which object he wants to be treated as a probandum. It is perfectly all right in this context to infer fire from smoke in the stock example of inference in Indian logic but in case this example is to be treated as a case of inference of the cause from the effect as is being done by almost all the *Jaina* logicians, then it would be proper that we say that we infer fire in conjunction with wet fuel from smoke and not simply fire for the following reasons : (i) By *Kāraṇa* or cause we mean *Karāṇa* or the extraordinary cause otherwise the *Buddhist's* objection will stand valid that every cause does not lead to effect necessarily. (ii) When in case of an inference of effect from cause we take the exact cause into account, there is no reason that the same should not be done while making an inference of the cause from the effect. It is improper, in fact, to use a single term loosely in a science like logic in two different senses in the same context. (iii) When a more precise knowledge can be had from an organ of knowledge, there is no reason that we should not have it in preference to a vague knowledge. There, the inference shall be.

1. आर्द्धेन्धनसंयुक्तवह्निमानयं पर्वतः धूमात् ।

and not

2. वह्निमानयं पर्वतः धूमात् ।

With these observations we proceed to the second variety of the *hetus viz.*, the non-causal variety.

According to Vātsyāyana, *Sāmānyatodṛṣṭa* inference is based on a *hetu* whose invariable concomitance is based on experience.²¹ He illustrates this by giving the case of inference of the gait of Sun through its change of position which is ob-

21. Bhāṣya, I.1.5.

viously a case of an invalid inference.²² *Śeṣavat*, also under its second interpretation, is a case of non-causal *hetu* as it is a case of inference of one alternative out of many possible alternatives by eliminating the rest of the possible alternatives.²³ Under the second interpretation of *Sāmānyatodṛṣṭa* also the example given is that of the inference of *Ātman* through desires, etc. Here the proban and the probandum are not perceivable.²⁴

The *Yuktidīpikā* adopts a very critical approach with regard to non-causal type of *hetu*. It says that any case of inference where the probandum is perceivable is not a case of *Sāmānyatodṛṣṭa* at all.²⁵ The exclusive feature (व्यच्छेदक) of *Sāmānyatodṛṣṭa* cannot be *Vyāptigraha* or knowledge of invariable concomitance since it is common to all types of inference²⁶. The *Yuktidīpikākāra* was intelligent enough to make fun of the inference of the gait of Sun through the change in its position (given by *Vātsyāyana*) by comparing it to another obviously invalid inference of the growth of the houses by the analogy of the growth of trees.²⁷ The exclusive feature of the *Sāmānyatodṛṣṭa*, according to the *Yuktidīpikā* is the inference of non-perceivable object. *Sāmānyatodṛṣṭa*, thus, will not represent the non-causal *hetu*.

22. ब्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति, तथा चादित्यस्य तस्माद-
स्त्यप्रत्यक्षस्याप्यादित्यस्य ब्रज्येति । —Ibid., 1.1.5.
23. शेषवन्नाम परिशेषः स च प्रसज्यप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गान्छिष्यमाणो
सम्प्रत्ययः । —Ibid., 1.1.5
24. सामान्यतो दृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन
लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते । —Ibid., 1.1.5.
25. यत्त्वेतत्सामान्यतो दृष्टमनुमानमेतस्मादतीन्द्रियाणामर्थानां समधिगमः
प्रत्यवगन्तव्यः । —Yuktidīpikā, 5.
26. सर्वत्रैव ह्यनुमाने क्वचिदर्थयोरव्यभिचारमुपलभ्यान्यत्र तज्जातीययो-
रर्थयोरव्यभिचारं प्रतिपद्यते । —Ibid., 5.
27. तद्यथा देवदत्ते गमनोद्देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यात्यन्तादृष्टज्योतिषा
देशान्तरप्राप्तेर्गमनमनुमीयते । तथा प्रासादादीनां वृद्धिपूर्वकं दीर्घत्वमुप-
लभ्यौषधिवनस्पतीनां दीर्घत्वदर्शनाद् वृद्धिरनुमीयते । Ibid., 5.

Uddyotakara appears to have been impressed by the criticism of the *Yuktidīpikā* of the gait of Sun. He, therefore, denies that the change of position of Sun can be ascertained at all²⁸. And though he does not challenge the validity of this inference, yet the roundabout way in which he justifies the conclusion of this inference²⁹ shakes the very root of the first interpretation of the *sānānyatodṛṣṭa* inference. *Uddyotakara* also denies any cause-effect relationship between fire and smoke and says that fire is inferred only as an attribute of smoke³⁰. *Uddyotakara* has, thus, enhanced the scope of non-causal *hetu*. *Uddyotakara* does not accept the position of the *Yuktidīpikā* or even *Vātsyāyana* that the probandum is unperceivable in the case of the *Sānānyatodṛṣṭa* because if it is accepted as imperceivable at the time of inference, then every probandum is such and it is imperceivable under all circumstances, then it cannot become an object of inference because an object which is not obtainable cannot be inferred as pointed out earlier.³¹

Dharmakīrti divided the non-causal *hetus* into *svabhāva* and *anupalabdhi*. Leaving aside the *anupalabdhi* which is a negative *hetu*, the Buddhist logicians divide the non-causal *hetus* into two : *svabhāva* and *tādātmya*. The example of *svabhāvahetu* is the inference of tree from *śimśipā*. *Svabhāva* is an analytic notion. *Tādātmya* is not to be confused with identity. It expresses a

28. सामान्यतोदृष्टम् आदित्यस्यागत्यनुमानमिति । तत्तु न बुद्ध्यामहे कथमनुमीयते इति ।
यदि तावद्गतिमानादित्य इति अनुमीयते । तत् केन प्रतिपद्यते ?
न ह्यादित्यगतेः किञ्चिद्सम्बद्धं लिङ्गमस्ति ।—नहि सवितुः कश्चित्
देशान्तरप्राप्तिं पश्यति । देशान्तरं खलु आकाशदेशो भवाभवे ।
उभयञ्चाप्रत्यक्षम् । न चान्या गतिरस्ति तस्माद्देशान्तरप्राप्तिदर्शनम-
युक्तम् ।
—*Nyāya Vārttika*, 1.1.5
29. देशान्तरप्राप्तिमनुमाय तथा गत्यनुमानमित्यदोषः । —*Ibid.*, 1.1.5
30. न हि धूमोग्नीं वर्तते नाप्यग्निघ्नं मे, स्वकारणवृत्तित्वात् । अतो न
कार्यकारणभावः ।...गुणभूतोऽनुमेयो भवति, अग्निमयं धूम इति ।
—*Ibid.*, 1.1.5.
31. यदि यदानुमीयते तदा अप्रत्यक्षः, तदा सर्वानुमानमेवेति विशेषणमनर्थ-
कम् । अथ न कदाचित्प्रत्यक्षः, कथं तर्हि अनुमानमत्र प्रवर्तते । व्याहृतं
च भवति—नानुपलब्धे न निर्णीत इति । —*Ibid.*, 1.1.5

relation between two classes where one includes the other. The stock example of inference in Aristotle's logic, viz., they are mortal because they are men, is implied by *Dharmakīrti in svabhāva*.³²

Gauḍapāda hardly adds anything new to the concept of non-causal *hetu* and sticks to the old example of inference of the gait of planets overlooking the objections raised by the *Yukti-dīpikā* and *Uddyotakara. Sāmānyatodīṣṭa*, according to *Gauḍapāda*, is a case of inference based on prior perception³³.

Akalaṅka along with other Jain logicians has made a remarkable contribution to Indian logic by (i) naming what is known as *tādātmya* amongst the Buddhists, as *vyāpaka* which is certainly a better name than *tādātmya* to suggest inclusion of one class into another class, (ii) and by classifying the non-causal *hetus* into predecessor, successor and simultaneous.³⁴ These three types of *hetus* have perhaps not been mentioned by any other logician in India though they are accepted as valid in modern logic. The *Mānameyodaya* of *Nārāyaṇa Bhaṭṭa*, of course, gives an example of the succeeding probandum from the preceding *hetu*, though he classifies it under *दृष्ट* and not under *क्रमभाव*, which he does not mention at all. These three types of *hetus* are based purely upon orderly successiveness and simultaneity.

Out of these two, the fact of simultaneity appears to have been noted by the *Sāṅkhyas* also who have two different traditions about the seven types of relations—one given by *Jaya-maṅgalā*³⁵ and the other quoted by *Vācaspati* in his commentary

32. Barlingey, S.S., A Modern Introduction to Indian Logic, pp. 134-135

33. तथा पुष्पिताम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति सामान्यतोद्दष्टेन साधयति । एतत्सामान्यतो दृष्टम् ।

—*Gauḍapāda*, on *Sāṅkhyakārikā*, 5

34. *Pramāṇasaṅgraha*, *Kārikās*, 29, 30

35. सम्बन्धाश्च सप्त—तत्र स्वस्वामिभावसम्बन्धः—प्रकृतिविकारसम्बन्धः—कार्यकारणसम्बन्धः—पात्रपात्रिकसम्बन्धः—साहचर्यसम्बन्धः—प्रति-द्वन्द्वसम्बन्धः—
Jayamaṅgalā, *Kārikā* 5

on the *Nyāyasūtra*³⁶ Both of the traditions mention *Sāhacarya Sambandha*. The case of *Vyāpaka hetu* is mentioned in the tradition quoted by *Vācaspati* under the name *mātrā*. The main opponent of *Vācaspati*, however, regarding the types of inference known as *tādātmya* amongst the *Buddhists*, *mātrā* amongst the *Sāṃkhyas*, the *Vyāpaka* amongst the *Jainas* and *Sambhava* by the *Pauraṇikas* are the *Buddhists*. The *Sāṃkhyas* have been referred to secondarily by *Vācaspati* in this connection³⁷ and the *Jainas* have been ignored altogether.

We can safely conclude from what has been said above that :

(i) The *Jaina* logicians have made a major contribution to *Indian logic* by pointing out that it is not only simultaneity (*sāhacarya*) between the proban and the probandum which leads to valid inference but it is also fixed order in succession (*kramabhāva*) of the proban and probandum which leads to valid inference.

(ii) The *Jainas* could point out to this new type of *hetu* because they did not consider *Pakṣadharmatā* (subsistence in the subject) as a necessary condition of *hetu*. It was in fact *Uddyotakara* who by his shrewd interpretation of the illustration of inference given by *Vātsyāyana* impliedly insisted on *Pakṣadharmatā* of *hetu* even though *Vātsyāyana* has clearly indicated that objects pertaining to all the three times past, present and the future—can become the object of inference, *Uddyotakara* clearly insisted that the time of the object to be inferred is not relevant. This view of *Uddyotakara* did not find support at least amongst the *Sāṃkhyas* because the *Jayamaṅgalā* continued to insist that the three types of inference are meant for inferring objects pertaining to three times future, past and present respectively. This controversy implied the question of *Pakṣadharmatā* indirectly and the *Jainas* strongly held the view that

36. मात्रानिमित्तसंयोगि-विरोधिसहचारिभिः ।

स्वस्वामिवध्यघाताद्यैः सांख्यानं सप्तधानुमा ॥

Tātparyavṛttiṭīkā 1.15

37. एतेनैव... मात्रानिमित्त... इत्यपि पराकृतं वेदितव्यम् ।

—*Ibid* 1.1.5